भावलिंगी और द्रव्यलिंगी मुनि का स्वरूप

इन्द्रलाल शास्त्री, विद्यालङ्कार
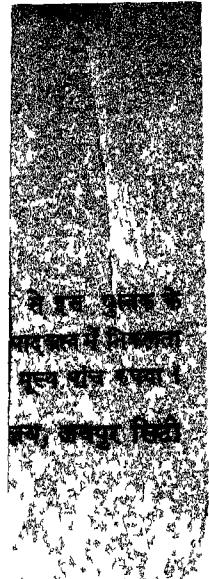
॥ श्रीः ॥

भावलिंगी और द्रव्यलिंगी मुनि का स्वरूप

और

श्री १०८ श्री अचार्य श्री वीरसागरजी महाराज की पूजा

★

लेखक :

श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार

प्रधान संपादक-अहिंसा, जयपुर

★

अर्थ सहायक :

श्री० सेठ चंदनमलजी सेठी सुजानगढ़

★

प्रकाशक :

निरंजनलाल जैन,

मंत्री भारतबर्षीय दि० जैन सिद्धान्त रक्षिणी सभा,

१६१ कालबादेवी रोड, बंबई २

★

(मूल्य सदुपयोग)

श्रीः

आद्य वक्तव्य

प्रथम तो यह कलिकाल है, दूसरे राजनैतिक वातावरण भी कलिकाल के प्रभाव की ही पुष्टि करता है, तीसरे सरल मार्ग की ओर सभी का झुकाव हो जाना भी साधारण सी बात है। इस ऐसे समय में वास्तविक दिगम्बर जैन धर्म का बना रहना अत्यन्त ही कठिन है। ऐसे समय में भी दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व होना साधारण बात नहीं परन्तु खेद है कि आज उनको भी गिराने का प्रयत्न अज्ञानता से या जानबूझ कर भी किया जा रहा है।

श्री पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालकार ने भावलिंगी और द्रव्यलिंगी मुनि का स्वरूप लिखकर बहुत ही आवश्यक और समयोपयोगी कार्य किया है। आप प्रौढ़ और अनुभवी विद्वान् ही नहीं किन्तु प्रभावशाली लेखक और वक्ता भी हैं। आपकी जैसे लेखनशैली परम प्रभावक और हितकारक है वैसे वक्तृत्वशैली भी वैसी ही प्रभावक और हितकारक है। आप १० वर्ष से रक्तविकार रोग से पीड़ित हैं जिससे आपका शरीर अत्यन्त निर्बल होगया है, तो भी आप बैठे २ सदैव लिखते पढ़ते ही रहते हैं। परिणामतः आपने इसीकाल में अनेक पुस्तकें लिख डाली हैं और अहिंसा पत्र का भी संपादन करते रहते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन में श्री सेठ चदनमलजी सेठी सुजानगढ़ निवासी (मालिक फर्म प्रेमसुख पन्नालाल कलकत्ता) ने आर्थिक सहायता देकर बहुत ही प्रशंसनीय कार्य किया है अतः लेखक महोदय तथा आप दोनों ही धन्यवाद के भाजन हैं।

श्री शास्त्रीजी हिन्दी और सस्कृत दोनों ही भाषाओं में पद्यमयी स्वतन्त्र रचना भी करते हैं। आपने श्री १०८ श्री आचार्यवर्य श्री वीरसागरजी की पूजा तथा देव गुरुशास्त्र स्तुति भी संस्कृत में लिखी हैं सो भी उपयोगी जानकर इस पुस्तक में दी गई है। आशा है कि धार्मिक सज्जन इन सब रचनाओं से लाभ उठाकर लेखकादिका अपने को ऋणी समझेंगे।

निवेदक
निरंजनलाल जैन
मंत्री—भारतवर्षीय दि० जैन सिद्धान्त
रक्षिणी सभा
१६१, कालबादेवी रोड, बम्बई २

दीपमालिका दिवस
संवत् २०१३ वि.

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

भावलिंगी और द्रव्यलिंगी मुनि का स्वरूप

आजकल कुछ लोग यह समझने तथा समझाते भी हैं कि इस काल में जितने भी मुनिराज, ऐलक क्षुल्लक आदि हैं इनको सम्यग्दर्शन नहीं है और ये सब द्रव्यलिंगी हैं। यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो केवल वे हैं जो केवल आध्यात्मिक चर्चा करते हैं, समयसार पढ़ते, तथा सुनाते हैं। उनसे भी बढ़कर उनके अंधभक्त ऐसे हैं जो यहां तक कहते तथा लिखते हैं कि कुंदकुंदाचार्य के बाद २००० वर्ष में इसी समय एक आध्यात्मिक संत प्रकटे हैं। वे उनके अंधभक्त उनको केवली श्रुत केवली तक कहने और लिखने लगे हैं।

जो दिगम्बर जैन मुनिराज दृष्टिगोचर हो रहे हैं संयम और चारित्र के प्रतीक हैं। वे स्वयं चारित्रवान् हैं और जो उनके पास जाता है उसे भी चारित्र और संयम से रहने की प्रेरणा करते हैं। कुछ लोगों को जो सांसारिक सुखों में आनंदानुभव करते हैं उन्हें चारित्र और संयम की बात नहीं सुहाती तो भी वे अपना स्थान संयमी संतों और चारित्रधारी महापुरुषों के मस्तक पर रखना चाहते हैं। लोमड़ी के जब अंगूर हाथ नहीं लगते तो उन्हें खट्टे बतला दिया करती है। अथवा "अशक्तास्तत्पदं गंतुं तस्य निंदां प्रकुर्वते"

जो लोग संयमी और चारित्र धारियों को इस प्रकार पददलित कर रहे हैं, वे मेरे इस प्रयास से उचित मार्ग पर आ सकें, यह तो असंभव प्रायसा है परन्तु जो शास्त्रानभिज्ञ सीधे साधे लोग उनकी बातों में आ सकते हैं वे इन शास्त्रीय वचनों से मार्ग भ्रष्ट होने से अवश्य बचेंगे, यही समझ यह प्रयास किया है।

द्रव्यलिंगी मुनि किसे कहते हैं:—

भगवान कुंदाकुंदचार्य ने अष्ट पाहुड ग्रंथ की भी रचना की है। ये वही कुंदकुंदाचार्य हैं जो कि समयसार के प्रणेता हैं। ये लिंग पाहुड में कहते हैं कि—

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगिभावं लिंगिम्मि य णारदो लिंगी॥ ३॥

भावार्थ—जो जिनेंद्रदेव के लिंग (स्वरूप-चिन्ह) को धारण कर पाप से अपनी बुद्धि को बिगाड़ता हुआ लिंगी भाव को लजाता है, वह ठीक नहीं है। जैसे कि लिंगियों में नारद होता है। अब आगे किन २ बातों से जिनेंद्रलिंग (निर्ग्रन्थ-दिगबर रूप) लज्जित होता है सो बतलाते हैं—

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण।
सो पाव मोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥ ४॥

अर्थ—जो मुनिराज का लिंग धारण करके भी नाचता, गाता और बाजे बजाता है उसकी पाप से बुद्धि मोहित हो गई है और पशु के समान है और वह श्रमण (साधु) नही है।

आगे और कहते हैं कि—

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहु पयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो नग्न दिगंबर लिंग धारण करके बहुत प्रयत्नों के साथ परिग्रह का संग्रह करता है, उसकी रक्षा करता है और जिसके यही आर्तध्यान बना रहता है वह भी पाप से मोहित बुद्धि वाला एवं पशु के समान है और श्रमण नहीं है।

आगे और भी कहते हैं कि—

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी ।
वज्जदि णरयं पाओ करमाणो लिंगि रूवेण ॥ ६ ॥

अर्थ—जो नग्न दिगंबर रूपधारी होकर भी पूर्ण अभिमान से गर्वित होकर विसंवाद कलह करता है, जूवा खेलता है वह मुनि का वेष धर कर ऐसी क्रियाओं के करने से नरक जाता है।

आगे और कहते हैं कि—

पापोपहदभावो सेवदि य अबंभ लिंगि रूवेण ।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे ॥ ७ ॥

अर्थ—जो पाप के द्वारा अपने शुद्ध भावों को नष्ट भ्रष्ट कर नग्न दिगंबर रूप मुनिलिंग में रहता हुआ स्त्री सेवन करता है वह पापी है और सदैव संसार रूपी बन में ही भटकता रहता है।

आगे और भी कहते हैं कि—

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण ।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥ ८ ॥

अर्थ—जो जिन लिंग धारण करके भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धारण नहीं करता और आर्तध्यान ही करता रहता है, वह अनंत संसारी होता है।

आगे फिर कहते हैं कि—

जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च ।
वज्जदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो जिन लिंग धारण करके भी गृहस्थों के लड़के लड़कियों के विवाह कराता है, खेती वाणिज्य व्यापार और जीव हिंसादि कार्य करता है, वह नरक में जाता है।

और भी कहते है कि—

चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं ।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥ १० ॥

भावार्थ—जो जिन लिंग धारण करके भी चोरों और लोफरों में लड़ाई और विसंवाद सरीखे तीव्र कर्म कराता है, तास चौपड़ शतरंज आदि खेल खेलता है, वह नरक में जाता है।

और भी कहते हैं कि—

दंसणणाणचारित्ते तव संजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।
पीडयदि वट्टमाणो पावइ लिंगी णरयवासं ॥ ११ ॥

अर्थ—जो जिन लिंग धारण करके भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप, संयम, नियमादि नित्य कर्मों को करने में पीडा और दुःख मानता है वह नरक वास भोगता है।

फिर कहते हैं—

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।
मायी लिंगविवाउ तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि लिंग धारण करके भी अनेक प्रकार के भोजनों में लालसा रखता हुआ काम सेवनादि में भावना तथा प्रवृत्ति करता है वह मायाचारी तथा जिन लिंग को दूषित करने वाला पशु के समान है और साधु नहीं।

आगे कहते हैं कि—

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं ।
अवरपरूवी संतो जिणमग्ग ण होइ सो समणो ॥ १३ ॥

अर्थ—जो जिन लिंग धारण करके भी भोजन के लिये दौड़ता फिरता है तथा भोजन के लिए लड़ाई झगड़ा भी करता है और दूसरों के दोष कहता रहता है वह साधु जिन मार्गी नहीं हैं।

और भी कहते हैं कि—

गिह्णदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदोसेहिं ।
जिण लिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥ १३ ॥

अर्थ—जो जिन लिंग धारण करके भी बिना दिया हुआ दान ले लेता है और किसी को भी पीठ पीछे दोष लगा कर पर निंदा किया करता है वह साधु नहीं है किन्तु चोर है।

और भी कहते हैं कि—

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंग रूवेण ।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १४ ॥

अर्थ—जिन लिंग धारी को ईर्या समिति पालते हुए चलना चाहिए परन्तु जो वैसा रूप धारण करके भी उछलता है, गिरता है, दौडता है, जमीन को खोदता है वह पशु के समान है और श्रमण नहीं है।

बंधो णिरओ सस्सं खंडेदि तहय वसुहंपि ।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१५॥

भावार्थ— जो जिन लिंग धारी होते हुए पाप बंध का काम करता हुआ भी अपने को बंध रहित मान कर धान्य को नष्ट करता है, अर्थात् कूटता पीटता है, भूमि को कूटता पीटता है, वृक्षों को तोडता काटता है वह मुनि नहीं किन्तु पशु के समान है।

रागं करेदि णिच्चं महिला वग्गे वरं च दूसेई।
दंसणणाण विहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१६॥

अर्थ-- जो जिन लिंग धारण करके भी महिलाओं में रागभाव करता है और दूसरों के दोप लगाता रहता है वह दर्शन और ज्ञान से रहित पशु के समान है और वह श्रमण (मुनि) नहीं है।

पव्वज्ज हीणगहिणे णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयार विणय हीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१७॥

अर्थ— जो जिन लिंग धारण करने पर भी वैराग्य भावना से हीन गृहस्थ शिष्यों पर अत्यंत स्नेह करता है और आचरण था विनय से रहित है वह पशु के समान है, मुनि नहीं है।

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ १८ ॥

भावार्थ—श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि हे मुनिवरो! ऐसा निकृष्ट कार्य करते हुए भी कोई जिन लिंग धारी भी अनेक मुनियों के बीच में रहता है और वह महान् विद्वान् है तो भी वह भाव हीन अर्थात् भावलिंगी नहीं होता। वह द्रव्य लिंगी ही है।

भावलिंगी और कौन नहीं है—

दंसणणाण चरित्तं महिलावग्गम्मि देहि वीसट्ठो।
पासत्थ वि य णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो एकांत में अकेली स्त्री को सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रादि प्रदान करता है वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट और भावलिंग हीन है और जिन लिंग धारी होते हुए भी मुनि नहीं है।

इसी प्रकार—

पुंछलि धरि जो भुंजइ णिच्चं संथुणइ पोसए पिंडं।
पावदि बाल सहावं भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ २० ॥

अर्थ—जो जिनलिंग धारी होकर भी व्यभिचारिणी अथवा वेश्या के घर भोजन करता है और उसकी प्रशंसा करता हुआ अपने शरीर को पुष्ट करता है वह अज्ञानी है और शुद्ध भावों से नष्ट होने के कारण भावलिंगी मुनि नहीं है।

भगवान कुंदकुंदाचार्य द्वारा किये हुए इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि दिगंबर जैन निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके भी जो नाचता गाता, उछलता, कूदता, दौडता फिरता है व्यभिचार सेवन करता है, हिंसादि पांच पापों में लगा रहता है, खेती वाणिज्य व्यापार आदि करता है, अपने आहार के लिए लडता है एकान्त में स्त्री को धर्मोपदेश देता है, व्यभिचारिणी स्त्रियों के घर पर जाकर भोजन करता है, उनकी स्तुति आदि उपर्युक्त अनुचित प्रवृत्तियां करता है वह भाव लिंगी मुनि नहीं है अर्थात् द्रव्यलिंगी है और ऐसों के लिए नारद का दृष्टान्त दिया है।

अब देखना यह है कि परम पूज्य आचार्य शांति सागरजी महाराज, परम पूज्य मुनिराज चंद्र सागरजी महाराज, श्री कुंथु सागरजी महाराज, आ० नमिसागरजी एवं श्री जयकीर्तिजी, हेम-सागरजी, सुमतिसागरजी, आदि सागरजी आदि जो थोड़े २ समय पहले ही दिवंगत हुये हैं तथा वर्तमान काल में विद्यमान आचार्य श्री वीरसागरजी, श्री शिवसागरजी, श्री धर्मसागरजी, श्री पद्मसागरजी, श्री महावीरकार्तिजी, श्री नेमिसागरजी, श्री देश भूषणजी, श्री पायसागरजी, श्री चंद्रकीर्तिजी, श्री वज्रकीर्तिजी महाराज आदि परम तपो धनों में उक्त सूत्र पाहुड की १६ गाथाओं में बतलाये गए अभाव लिगी (द्रव्यलिंगी) के लक्षण घटित होते हैं क्या ? यदि उनमें एक भी लक्षण घटित नहीं होता तो उन्हें भाव लिंगी न मानना अपने को श्री कुंदकुंदाचार्य से भी बढ़ कर समझना है या भगवान् कुंदकुंदाचार्य के भी सर पर चढ़कर प्रलाप करना है।

ये महान तपस्वी महामुनिराज आध्यात्मिकता की साक्षात सप्राण मूर्त्तियां हैं जबकि अन्य लोग आध्यात्मिक पूज्य संत होने की केवल जबानी ही डींग मारते हैं और वस्तुतः देखा जाय तो यहां कथनी के सिवाय करनी का नाम भी नहीं है। ये मुनिराज तथा इनके लघुनंदन ऐलक क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका आदि अधिक आडंबर पूर्ण थोथी कथनी न कर उस कथनी को कार्यान्वित कर रहे हैं और सच्चे वास्तविक परम आध्यात्मिक संत हैं। आध्यात्मिकता का अर्थ मोह पर विजय पाना है। जिन्होंने

मोह पर विजय प्राप्त नहीं किया अर्थात् मोह के कारण परिग्रह को नहीं छोड़ा वे चाहे घंटों तक आत्मा का प्रवचन करते या सुनते सुनाते रहें, आध्यात्मिकाभास ही हैं, ढोंगी हैं और वास्तविक आध्यामिक संत नहीं है।

इसी विषय को श्री तत्त्वार्थसूत्र के वार्तिककार श्री अकलंकदेव आचार्य महाराज श्री राजवार्तिक ग्रंथराज (परमागम) में स्पष्ट करते हैं कि—

"पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रन्थ स्नातकाः निर्ग्रन्थाः"

(तत्त्वार्थसूत्र ६ अध्याय सूत्र ४६)

अर्थ—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पांचों प्रकार के ही मुनिराज निर्ग्रन्थ होते हैं।

इनमें पुलाक मुनि वे कहलाते है जो—

अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः ॥

"उत्तरगुणेष्वनापेतमनसो व्रतेष्वपि कदाचित् क्वचित् परिपूर्णता मपरिप्राप्नुवतः अविशुद्धपुलाकसादृश्यात्पुलाव्यपदेशमर्हन्ति"

अर्थात्—जो उत्तर गुणों के पालन करने में संलग्न नहीं हैं किन्तु मूल व्रतों (अट्ठाईस मूलगुणों) के पालन करने में भीं किसी समय किसी क्षेत्र विशेष में किसी कारण से जिनके परिपूर्णता नहीं है अर्थात जो मुनियों के पालन योग्य अट्ठाईस मूल गुण होते हैं उनमें से भी कभी कोई गुण किमी समय नहीं भी

पल सके तो भी वे मुनिपद से च्युत नहीं कहलाते उनका नाम पुलाक मुनि हैं।

पुलाक छोटे धान्य को कहते हैं। जैसे छोटा धान्य अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त नहीं हुआ तथापि वह धान्य है। इसी प्रकार उक्त स्वरूप वाले षष्ठ गुण स्थानवर्त्ती ही होते हैं और भावलिंगी हैं। ये पांचों भेद भावलिंगी मुनियों, के ही हैं। यद्यपि उनसे उत्तर गुण नहीं पलते तो भी उनकी उनके पालने की भावना अवश्य लगी रहती है। अट्ठाईस मूल गुणों में नग्नत्वादि मुख्य गुण हैं जिनको तो वे धारण करते हैं, हां कदाचित् इन नग्नत्वादि को छोड़कर बाकी मूल गुणों में से कोई किसी समय किसी निमित्त से नही भी पलै तो भी भाव लिंग में बाधा नहीं आती।

जिन मुनियों के नाम गिनाये हैं उनके तथा अन्य के भी जिनका कि विशेष परिचय नहीं है २८ मूल गुण तो बराबर पलते ही हैं किन्तु ८४ लाख उत्तर गुणों में से कितने ही उत्तर गुण भी उनके पलते हैं फिर उन्हें भावलिंगी मुनि न मानना श्री उमा स्वामी आचार्य और श्री अकलंक देवके भी सर पर चढ कर प्रवृत्ति करना है।

बकुश मुनि का लक्षण यह है—

अखंडितव्रताः शरीर संस्कारर्द्धि सुखयशोविभूतिप्रणवा बकुशाः ॥, नैग्रर्थ्यं प्रस्थिताः, अखंडितव्रताः, शरीरोपकरणविभूषानुवर्त्तिनः

ऋद्धियशस्कामाः, शातगौरवाश्रिताः, अविविक्त परिवाराः, छेदशवल युक्ता बकुशाः। शवलपर्यायवाची बकुशशब्दः।

अर्थात—जो नग्न दिगंबर अवस्था को धारण करते हैं, मूल गुणों को जो खंडित नहीं होने देते अर्थात जो परिपूर्ण २८ मूलगुणों को यथावत पालते हैं किन्तु वे शरीर और उपकरणों की सुंदरता और सफाई को पसंद करते हैं अर्थात शरीर भी मैला नहीं रखते, इसका यह अर्थ नहीं है कि वे स्नानादि करते हैं। शरीर के मैल लग जाय तो वे हाथ या पिच्छिकादि से हटा देते हैं। पीछी और कमंडलु भी नया रखना पसंद करते हैं इस प्रकार जिनको कुछ अनुरागबुद्धि बनी रहती है, ऋद्धि और यश की चाह भी जिनके रहती है, अपना प्रभावशाली गौरव भी वे रखना चाहते हैं, साधु संघ के लोगों से जिन के ममत्व भाव भी होता है। इस प्रकार खंड रूप से जो विचित्र भाव रखते हैं, वे बकुश नाम के मुनि होते हैं। यहां बकुश शब्द शवल (विचित्र) शब्द का वाचक है।

अब कुशील मुनि का लक्षण बतलाते हैं—

कुशीला द्विविधाः, प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्। कुशीला द्विविधा भवंति, कुतः—प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्। अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथंचिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः। ग्रीष्मे जंघाप्रक्षालनादिसेवनाद्वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतंत्रत्वात् कषायकुशीलाः।

अर्थ--कुशील नाम धारी मुनि दो प्रकार के होते हैं, प्रति सेवना कुशील और कषायकुशील। जिनके कुछ २ अंतरंग परिग्रह हो, २८ मूलगुण तथा समस्त उत्तर गुण भी पालते हों परन्तु कभी किसी प्रकार उत्तर गुणों की विराधना हो जाती हो वे प्रति सेवना कुशील कहलाते हैं और कषायकुशील मुनि वे होते हैं जो गर्मी की ऋतु में कभी जंघा पर पनीं डाल लेते हों या ऐसा ही कोई हलका सा काम लेते हों एवं जिनके अनतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्याना वरण कषायका तो अभाव है परन्तु कभी सज्वलनकषाय के परिणाम हो जाते हों, वे कषाय-कुशील कहलाते हैं।

निर्ग्रन्थ मुनि का स्वरूप यह है—

उदके दंडराजिवत्संनिरस्तकर्माणोऽन्तर्मुहूर्तकेवलज्ञान दर्शन प्रापिणो निर्ग्रन्थाः।

उदके दंडराजिर्यथा आश्वेव विलयमुपयाति तथाऽनभिव्य-क्तोदयकर्माणः ऊर्द्ध मुहूर्त्तादुद्भिद्यमानदर्शनकेवलज्ञान-भाजो निर्ग्रन्थाः।

अर्थ—जैसे पानी में लकडी का दंडा डालते डालते वह बना हुआ जलका विकृत रूप ठहरता नहीं वैसे जिनके कर्मका उदय अभिव्यक्त न होकर एक मुहूर्त्त के भीतर भीतर जिन्हें केवल ज्ञान हो जाने वाला है वे निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं।

स्नातक मुनिका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रक्षीणघाति कर्माणः केवलिनः स्नातकाः ।

अर्थात् जिन के ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट होकर केवल ज्ञान प्रकट हो गया हो ऐसे तेरहवें गुणस्थान वर्ती मुनिराज को स्नातक कहते हैं ।

ये पांचों ही प्रकार के मुनि निर्ग्रन्थ तथा भावलिंगी होते हैं । आचार्य शांति सागरादि जो मुनि हो गये तथा वर्त्तमान में जो आचार्य वीर सागरादि मुनिराज हैं, ये सब पुलाक मुनियों से भी बढकर बकुश तथा कुशील सज्ञक मुनियों में गर्भित होते हैं । यहां कुशील शब्द पारिभाषिक है । यहां कुशीलका अर्थ खोटे शीलवाला नहीं है । यहां कुशील शब्द का अर्थ है—"कौ शीलवत कुशीलाः" 'कु' का अर्थ पृथ्वी है । "क्षमा धरित्री क्षितिश्च कुः क्षमा, धरित्री, क्षिति और कु ये सब पृथ्वी के नाम है, जो समस्त पृथ्वी में शीलवान पने मे सर्वोत्कृष्ट हैं वे कुशील हैं ।

श्री उमास्वामी महाराज ने उक्त सूत्र में दो जगह निर्ग्रन्थ शब्द रक्खे हैं । पहले वाला निर्ग्रन्थ परिभाषिक शब्द है और अन्त का यह बतलाना है कि ये सब निर्ग्रन्थ है अर्थात् नग्न दिगंबर वीतरागी है ।

द्रव्यलिंग भावलिंग के सम्बन्ध में भगवान उमास्वामी तथा भगवान् अकलंक देव ने इसके आगे के सूत्र में ही बहुत अच्छा खुलासा किया है—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतःसाध्याः॥

अर्थात्—इन पुलाक आदि पांचों निर्ग्रन्थों में संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ विकल्पों से साध्यता है।

संयम की अपेक्षा से—

पुलाक, बकुश और प्रति सेवना कुशील निर्ग्रन्थ मुनि सामायिक और छेदोपस्थापना संयम में होते हैं और कषाय कुशील, सामायिक, छेदोपस्थोपना, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म सांपराय में होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक यथाख्यात संयम में होते हैं अर्थात् इनके ये संयम होते हैं।

श्रुत की अपेक्षा से—

यदि उत्कृष्ट श्रुतज्ञान हो तो पुलाक, बकुश और प्रति सेवना कुशील अभिन्नाक्षर दश पूर्व के धारी तक होते हैं। अर्थात्—एक भी अक्षर कम नहीं (परिपूर्ण) ऐसे दश पूर्व ज्ञान तक के धारण करने वाले उक्त तीनों प्रकार के मुनि होते हैं। कषाय कुशील निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व के पाठी तक होते हैं और जघन्य अर्थात् कम से कम इनमें श्रुत-ज्ञान हो तो पुलाक जाति के मुनियों को आचार वस्तुका और बकुश और कुशील निर्ग्रन्थ मुनियों को अष्ट प्रवचन मातृका (पंच समिति तीन गुप्ति) का ज्ञान अवश्य मेव होता ही है। स्नातक मुनि तो श्रुतज्ञान से भी ऊपर केवल ज्ञानी होते है।

प्रति सेवना की दृष्टि से—

पांच मूलगुणों (पांच महाव्रतों) तथा रात्रि भोजन त्याग इन छह में से किसी एक व्रत की विराधना कभी कभी पुलाक

मुनि के किसी दूसरे के दबाव, जबर्दस्ती या मजबूरी से होजाती है तो भी उनके भाव मुनिपने में और निर्ग्रन्थता में बाधा नहीं आती। जैसे किसी सती साध्वी के साथ कोई दुष्ट बलात्कार प्रयोग कर भी ले तो उसके सती साध्वी पनमें बाधा नहीं आती क्योंकि जब कोई बल प्रयोग करे तो उस पाप के साथ अत्यन्त अरुचि होने परभी जबर्दस्ती या मजबूरी से उसे फंसना पड़ता है। अभी कुछ दिनों पहले श्री जंबूसागरजी मुनिमहाराज को कुछ लोगों ने बांध कर उनका मुँह बंदकर मोटर में डाल कर २०० माईल लेजाकर जंगल में छोड़कर उनपर घोर उपसर्ग किया परन्तु इससे उनका मुनिपद नष्ट नहीं होसकता क्योंकि यह उनके साथ बलप्रयोग था। मोटर में बैठने आदि में उनकी रुचि सर्वथा नहीं थी। इसी प्रकार पराभियोग, जबर्दस्ती आदिसे उक्त छह बातों में से एककी प्रतिसेवना होजाने परभी निर्ग्रन्थ मुनिपद नष्ट नहीं होता और वे पुलाक मुनि कहलाते हैं।

बकुश मुनि दो प्रकार के होते हैं, उपकरण बकुश और शरीर बकुश। जो मुनि पीछी, कमंडलु, चौकी, शास्त्रों के वेष्टन आदि सयम और ज्ञान के उपकरणों में कुछ आसक्त होते हैं तथा एक प्रकार की एक पुस्तक की जगह दो तीन पुस्तकें रखते हों ऐसे परिणाम तथा प्रवृत्तिवाले उपकरण बकुश होते हैं। वे सयम और ज्ञान के उपकरणों से अतिरिक्त किसी वस्तु में अनुराग नहीं रखते केवल संयम और ज्ञान के उपकरणों में अनुरागी होते हैं, ऐसे मुनि उपकरण बकुश कहलाते हैं।

आजकल जिन्हें शास्त्रों का ज्ञान नहीं है वे मुनियों को अपने पास शास्त्र रखने से उन्हें परिग्रही मान बैठते हैं, जो भूल और अज्ञानता है अथवा जान बूझकर उनपर परिग्रह का लांछन लगाना है।

मुनियों के पास कागज कलम भोजपत्र दवात स्याही आदि पास न होते तो वे शास्त्र कैसे लिखते ? ये सब ज्ञान के उपकारण हैं। नेत्रों से कम दीखने पर चश्मा लगाना भी ज्ञान के उपकरण में ही गर्भित होता है। यदि चश्मे को परिग्रह भी माना जाय तो इतने से परिग्रह से पुलाक मुनियों की संज्ञा में आजाते हैं ! चश्मा लगाने से मुनिपद चला जाता हो, ऐसी बात कदापि नहीं है वर्तमान मुनिजन सांसारिक पदार्थों के देखने के लिए चश्मा नहीं लगाते।

शरीर बकुश मुनि वे होते हैं जो अपने शरीर पर मिट्टी धूलि लग जाती है तो उसे पीछी से हटा देते हैं। वे अपने शरीर को स्वच्छ रखना चाहते हैं। शरीर को मैला रखना पसंद नहीं करते।

प्रति सेवना कुशील मुनि वे होते हैं जिनके मुलगुणों की तो विराधना नहीं होती किन्तु उत्तर गुणों में कभी किसी प्रकार उनके विराधना हो भी जाती है।

कषायकुशील, निग्रन्थ और स्नातक इनके मूलगुणों में होती और न उत्तर गुणों में ही।

तीर्थ की दृष्टि से

प्रत्येक तीर्थ कर भगवान् के तीर्थकाल में ही ये पांचों प्रकार के मुनि होते हैं इसलिये भिन्न २ तीर्थकरों के समय में होने से उनमें भेद है। शास्त्रकारों ने बतलाया है कि श्री ऋषभदेव तीर्थ कर के समय में तो अज्ञानता विशेष रही और महावीर स्वामी के समय में उदंडता और असरल प्रकृति की विशेपता रही बाकी २२ तीर्थंकरों के समयों में प्रायश्चित्त की आवश्यकता कम इसलिए रही कि ज्ञान और चारित्र की प्रवृत्ति संतोपजनक रही।

भिन्न भिन्न तीर्थकरों के समय में प्रकृति एवं ज्ञानादि गुणों में तथा संहनन आदि में द्रव्य क्षेत्र काल भाव की योग्यता से अंतर अवश्य होता रहा है परन्तु मुनियों के स्वरूप में अंतर नहीं है। पुलाक मुनि को छठा गुणस्थान नियम से होता ही है क्योंकि परिणामों में संसार भोगों से विरति के बिना कोई क्यों मुनिपद धारण करेगा?

लिंग की अपेक्षा से

लिंगं द्विविधं, द्रव्यलिंगं भावलिंगं च। भावलिंगं प्रतीत्य सर्वे पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः।

लिंग दो प्रकारका होता है, द्रव्यलिंग और भावलिंग। भाव लिंगकी अपेक्षा ये पांचों ही निर्ग्रन्थ भावलिंगी होते हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा भेद भी होता है।

यहां आचार्य उमास्वामी तथा आचार्य अकलंकदेव ने पांचों ही प्रकार के मुनियों को भावलिंगी स्पष्ट बतलाया है। द्रव्यलिंग की अपेक्षासे पुरुषलिंग में ही यह मुनिपद होता है। द्रव्यलिंगके बाह्य चिह्न नग्नत्व के अतिरिक्त पीछी कमंडलु भी होते हैं: परन्तु पीछी कमंडलु केवल ज्ञान बाद नहीं होते ऐसी अवस्था में द्रव्यलिंग की अपेक्षा से तो भेद हो सकता है परन्तु ये सभी पुलाकादि मुनि भावलिंगी है।

मुनिके जिसने कि आत्मा और पुद्गल का भेदज्ञान करलिया है सम्यग्दर्शन अवश्य होता है। इस भेदज्ञान के परिणामों में शरीर देहादिसे विरक्ति के बिना कौन मुनि होसकता है? किसी के सम्यग्दर्शन न हो और वह नग्न दिगंबरत्व एवं पीछी कमंडलु धारण करले ऐसा इस काल में यों संभव नहीं दीखता कि प्रवृत्तियों से सांसारिक स्वार्थ और निःस्पृहता छिपी नहीं रहती। वर्तमान उक्त दि० जैन मुनियों में ऐसा एकभी नहीं दीखता। गर्मी में जंघा प्रक्षालन के समान सर्दीमें किसी मकान में भी कपड़े के डेरे में भी कोई सो जाय तो ऐसे मुनि भी कषायकुशील मुनि की संज्ञा में आते हैं क्योंकि संहननकी कमी से ऐसा होता है बाकी सम्यग्दर्शन में उनके बाधा हो, ऐसा नहीं माना जा सकता।

यदि किसी मुनि के सम्यग्दर्शन में बाधा भी हो तो उसका ज्ञान कैसे हो? यह बात तो केवलज्ञानी ही जान सकते हैं। किसी के भीतर के मनकी बात और वह भी सम्यग्दर्शन मिथ्या

दर्शनकी सूक्ष्मा तिसूक्ष्म बात कैसे जानी जा सकती है ? जब वह नहीं ज नी सकती तो यह कैसे माना जासकता है कि अमुक मुनि मिथ्यादृष्टि है। यदि बाह्य में ऐसी कोई बात दीखती हो तो उसे कोई भी मुनि मानने को तैयार नहीं होसकता।

लेश्या की अपेक्षा से

पुलाक मुनिके पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें होती हैं। अर्थात् इन तीनों में से कोई एक होसकती है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील क छहों लेश्याएं हो सकती हैं। कषायकुशील मुनियों से जोकि परिहार विशुद्ध चारित्र के धारण करनेवाले होते हैं कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएं होती हैं। निर्ग्रंथों के केवल एक शुक्ल लेश्या ही होती है। स्नातकोंके लेश्या नहीं होती।

'कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या'

अर्थात्—कषायसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं।

उपपाद की अपेक्षा से

पुलाक मुनि मरण करके अधिक से अधिक बारहवें स्वर्ग सहस्त्रार क उत्कृष्ट स्थितिवाले देव होते हैं। वकुश और प्रति-सेवनाकुशील मुनि अधिक से अधिक वाईस सागरकी स्थतिवाले आरण और अच्युत स्वर्गमें देव होते हैं। कषायकुशील तथा निग्रन्थ मुनि मरण करके अहमिंद्रोंमें सर्वार्थ सिद्धि विमानमें

जन्म लेते हैं जघन्यरूप से अर्थात् कम से कम सौधर्म स्वर्गमें तो ये जन्म लेते ही हैं। अन्य गतियों तथा भवनत्रिक ये जन्म नहीं लेते हैं।

पुलाकादि मुनि नियम से कल्पवासी देवों में ही जन्म लेते हैं जो सम्यक्त्व सहित महाव्रतकाही फल है।

स्थान की अपेक्षा से

स्थान से यहां प्रयोजन संयम स्थानों से है। कषाय के भेदों के निमित्त से जो कुछ परिणामों तरतमता हो जाती है उन्हीं का नाम संयम स्थान है। कषायों के असंख्यात भेद होने से ये कषायाध्यवसाय भी असंख्यात होते हैं। परमाणुओं की रसोदय शक्ति की अपेक्षा उनके अनंत भेद हो जाते हैं और जितने सज्वलन कषाय के उदयजनित रसोदयरूप भेद हैं उतने ही संयमरूप परिणामों के भेद हो जाते हैं क्योंकि जितनी कषायोदय की मंदता तीव्रता या क्षयता होगी उतनी उतनी मात्रा में ही संयम भाव प्रकट होगा।

संयम के लब्धि स्थान उन्हें कहते हैं जहां कषायों का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होकर संयमरूप परिणामोंका विकास होता है अथवा आत्मा में विशुद्धि हो जाती है।

पुलाक मुनि और कषाय कुशील मुनि के इन पंच प्रकार के मुनियों में सबसे जघन्य विशुद्धि स्थान होते हैं। इन लब्धि स्थानों

को धारण कर उक्त दोनों प्रकार के मुनि अपनी विशुद्धि को और भी बढाते हुये असंख्यात संयम लब्धि स्थानों तक बराबर चढ़ते जाते हैं। अर्थात् जघन्य विशुद्धि से असंख्यात गुणी विशुद्धि तक बढ़ जाते हैं। आगे जाकर पुलाक मुनि तो असंख्यात संयम के लब्धि स्थानों तक ही रह जाते हैं परन्तु प्रति सेवना कुशील, कषाय कुशील और बकुश मुनि और भी असंख्यात गुणी विशुद्धि प्राप्त कर असंख्यात लब्धि स्थानों तक बढ़ जाते हैं परन्तु बकुश मुनि तो वहीं रह जाते हैं और दोनों प्रकार के कुशील मुनि आगे बढ़कर प्रति सेवना कुशील तक रुक जाते हैं और कषायकुशील बढ़ जाते हैं। आगे कषायस्थान नहीं। निर्ग्रंथमुनियों के कषायकुशील मुनियों से असंख्यातगुणी परिणामों में विशुद्धि होती है।

यह सब वर्णन श्रीराजवार्त्तिक आदि तत्वार्थ सूत्र ग्रंथ के भाष्यों में विशदरीति से किया गया है जो स्वाध्याय करने से प्राप्त होता है। जिनागम के समस्त विषयों के ज्ञान प्राप्त किये बिना तत्व की उपलब्धि नहीं होती है और जब तक तत्वोपलब्धि न हो तब तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

आजकल धर्मशास्त्र सबको लावारिस से दीखते हैं। जरासी बीमारी पर भी लोग बड़े से बड़े डाक्टर को बुलाकर उसके वचनों को प्रमाण मानते हैं परन्तु कुछ न जानने पर भी धर्म के काम में अपनी ही बात को प्रमाण मानने तथा मनाने में लोग अपने को सर्वाधिकारी समझते हैं।

आज कल केवल आत्मवाद नामकी भी बीमारी चल पड़ी है जहां आत्मवाद की ऐसी ऐकांतिक कथनी चलती है कि जिसे सुनकर लोग ऐसे उन्मत हो जाते हैं कि अपने उन वक्ताओं तथा अपने आगे सयम और चारित्र का कोई मूल्य ही नहीं समझते और समस्त चारित्र धारियों तक को मिथ्यादृष्टि और अपने को ही केवल सम्यग्दृष्टि मानने लगे हैं।

भगवान् कुंदकुंदाचार्य ने कहा है कि सम्यदर्शन से जो भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है। चारित्र से भ्रष्ट तो उसके सम्यग्दर्शन विद्यमान है तो पुनः चारित्र धारण कर सिद्धपद प्राप्त कर लेता है। परन्तु दर्शन से भ्रष्ट नहीं होना चाहिये।

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरिय भट्टा दंसण भट्टा न सिज्झंति॥

अगर किसी से चारित्र न पल सके तो न पाले या जितना पल सके उतना पाले परन्तु चारित्र का मूल्य न समझ चारित्रधारी को अचारित्रधारी माने अथवा मिथ्या दृष्टि माने, यह उस का मिथ्यात्व है और ऐसे माननेवाले लोग ही वास्तव में महा मिथ्या-दृष्टि हैं।

सो ही कहा है—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहई।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं॥

अर्थात्—जितना चारित्र पल सकै, पालना चाहिये न पल सकै उस पर श्रद्धान तो रखना ही चाहिये क्योंकि तत्वश्रद्धानी

प्राणी अजरामर पद को पा जाते है।

पाप करना भी पड़े तो पाप को पाप समझ कर करने वाला चारित्र से तो पतित कहा जा सकता है परन्तु सम्यग्दर्शन से पतित नहीं परन्तु जो पाप को धर्म या कर्त्तव्य मानकर करता है वह चारित्र हीन तो है ही किन्तु सम्यक्त्वहीन भी है इसी प्रकार मुनि धर्म या पूर्ण श्रावक धर्म न भी पलै तो कोई बात नहीं परन्तु जो पालने वाले हैं उनको नीचा समझ कर अपने को उनके भी सर पर बिठलाना महामिथ्यात्व का सूचक है।

एक भ्रांत धारणा यह भी चल रही है कि कुछ लोग चतुरनुयोगमय जिनवाणी पर अटल श्रद्धा न रख जिनवाणी के २-४ शास्त्रों पर ही श्रद्धा रखते हैं। और तो क्या एक ही आचार्य के एक ग्रंथ पर तो श्रद्धान रखते हैं और उन्हीं के दूसरे ग्रंथ को नहीं मानते। उस अपने माने हुए ग्रंथ में भी कुछ वाक्य तो मानते हैं और कुछ को नहीं। यह सब अनंत मिथ्यात्व की सूचक मूर्खता है।

आचार्य शिवकोटि महाराज कहते हैं कि—

पदमक्खरं पि एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिदिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि य मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो ॥

अर्थात्—जो जिनागम के सब शास्त्रों पर रुचि रखता हुआ भी केवल उसके एक पद या अक्षर को नहीं मानता तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

आज कोई चार अनुयोगों में तीन अनुयोगों की ही प्रमाण मानता है तो कोई केवल समय सार प्रवचनसारादि दो तीन ग्रन्थों को ही। ऐसे लोग महामिथ्यादृष्टि और पाखंडी हैं। ऐसे ही लोग पंचमहाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणधारी मुनिराजों को मिथ्यादृष्टि तथा अज्ञानी आदि कहकर अपना आसन सबके ऊपर जमाना चाहते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रखने के लिए ही यह निबंध लिखने का प्रयास किया है।

निष्पक्ष विचारकों को चाहिये कि द्रव्यलिंग और भावलिंग का स्वरूप इस निबंध द्वारा समझें और भ्रांत कल्पनाओं तथा धारणाओं से बचें।

आजकल कुछ लोग ऐसे भी हैं जो चाहे अपने में जैनत्व के आठ मूलगुण भी न हों परन्तु मुनिमें ८४ लाख उत्तरगुण तक देखना चाहते हैं। उन्हें चाहिये कि वे दूसरों को देखने के पहले अपने को देखें। यदि वे अपने को देखना सीख जायगे तो दूसरे को भी देखने के अधिकारी हो सकेंगे।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इस काल में २८ मूलगुण धारी होते ही नहीं तो यह कहना भी उनका आगम के विपरीत है। श्री त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रंथराज में तो यहाँ तक लिखा है कि पंचम काल के अन्त तक चातुर्वर्ण्य संघ रहेगा। चातुर्वर्ण्य का अर्थ-मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका है,—

वीरांगजाभिधाणो तक्काले मुणिवरो भवे एक्को।
सव्वसिरी तह विरदो सावयजुग मग्गिदत्त पंगुसरी ॥१५२१॥
(चतुर्थ महाधिकार)

अर्थ—पंचमकाल के अन्त में इक्कीसवें कल्कि के समय में वीरांगज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका, अग्निदत्त तथा पंगुश्री नामक (श्रावक श्राविका) होंगे।

उस समय का वह कल्की राजा उन मुनिमहाराज श्री वीरांगज से अपने मंत्री द्वारा कर मांगेगा जो उनके भोजन में पहले ग्रास के रूप में होगा। मुनि महाराज अपने करगत आहार को लगान में देकर अन्तराय जानते हुए अवधिज्ञान प्राप्त करेंगे और उस ज्ञान से अपनी तथा आर्यिका एवं श्रावक श्राविका की केवल तीन दिन की आयु बाकी जानकार स्वयं सन्यास धारण करेंगे और उनको भी संन्यास ग्रहण करा देंगे। वे कार्तिक कृष्ण पक्ष अमावस्या को समाधिमरण करके स्वर्ग चले जायेंगे।

इस आगम में आये उल्लेख से स्पष्ट है कि पंचमकाल के अन्त तक मुनियों का अस्तित्व रहेगा। इसलिए यह कहना है कि इस काल में मुनि नहीं होते सर्वथा मनगढ़न्त बात है।

दिगम्बर जैन मुनि के २८ मूल गुण

पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत) होते हैं। जो सभी मुनियों के पलते हैं। वे किसी

प्रकार की हिंसा नही करते, झूँठ नहीं बोलते, चोरी नहीं करते, पूर्ण ब्रह्मचारी हैं ही और वे परिग्रह बिलकुल ही नहीं रखते। इन पाँच महाव्रतों के दिगम्बर जैन साधु मूर्तिमन् स्वरूप होते हैं।

पाँच समितियाँ (ईर्या, भाषा, एषणा आदान निक्षेपण और उत्सर्ग) होती हैं। जो भी उक्त मुनियों के बराबर पलती ही हैं।

पाँचों इन्द्रियों पर विजय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र, और श्रोत्र इन पाँचों पर विजय) जो भी मुनियों के बराबर देखने में आता है। ठंड गर्मी आदि सहते हैं अनेक रस छोड़कर रूखा सूखा, जैसा भी मिल जाता है, शुद्ध और प्रासुक मिल जाने पर खालेते हैं इत्र तेल आदि नहीं सूँघते, नाटक सिनेमा चित्र आदि नहीं देखते, न किसी प्रकार के गाने आदि सुनने की तरफ उनका ध्यान है। फिर पाँचों इन्द्रियों पर विजय क्यों नहीं ?

छह आवश्यकों का पालन (सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तवन, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग) ये छह आवश्यक होते हैं जिन्हें भी उक्त मुनिराज बराबर पालन करते हैं। सामायिक त्रिकाल करते ही हैं, प्रतिक्रमण भी समय समय पर करते ही हैं, वंदना और स्तवन सदैव करते ही हैं, कर्मास्रव के कारणों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग (उपवास व्रतादि द्वारा) करते ही रहते हैं। कायोत्सर्ग प्रत्येक अवसर जैसे (मल मूत्रादि त्याग आदि) पर करते ही हैं।

अब सात मूल गुण ये और रहजाते हैं—

(१) केश लोंच करते ही हैं (२) नग्नता–नग्न रहते ही हैं। (३) भूमि शयन–पृथ्वी पर ही सोते हैं। चौकी पाटा ये सब कठिनता के कारण पृथ्वी में ही गर्भित हैं। सूखा घास भी पृथ्वी में ही गर्भित है जैसाकि मुनि आचरण के प्रतिपादक मूलाचार आदि ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है। (४. अस्नान–स्नान करते ही नहीं। ५) अदन्तधावन–ये मुनिराज दाँतून मंजन आदि से दंतून करते ही नहीं। आहार के समय पानी से मुँह को साफ कर लेना अर्थात् मुख में बाकी रह गये खाद्यांश को कुरला करके उसके साथ निकाल देना, दंत धावन नहीं होता। (६) स्थिति भोजन-ये मुनिराज खड़े होकर आहार लेते ही हैं (७) एक भुक्ति चौबीस घण्टों में एक बार तथा एक ही जगह भोजन पान लेते ही हैं।

इस प्रकार उक्त मुनिराजों के २८ मूलगण बराबर पलते हैं। वन न रह कर नगर के जिनालय आदि में रहने से मूलगुणों में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि वन में रहना, आतापन वृक्षमूल अभ्रावकाशादि योग धारण करना आदि ये उत्तर गुणों में हैं, मूलगुणों में नहीं।

गृहस्थ जैन के आठ मूलगुण (मद्यत्याग, मधुत्याग, मांसत्याग, रात्रि भोजन त्याग, पांच उदबंर का त्याग, देव दर्शन करना,

जीवों की दया और जल छान कर पीना) होते हैं तथा देव पूजा, गुरु सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान देना ये छः आवश्यक कर्म हैं। परन्तु आज के अनेक गृहस्थों में जबकि आठ मूलगुण भी नहीं पाये जाते और न छह आवश्यकों का पालन होता है। ऐसी अवस्था में मुनियों में दोष ढूँढने तथा उन्हें द्रव्य लिंगी बतलाने के पहले अपने को जैन या श्रावक बनना चाहिए। यदि उनमें जैनत्व या श्रावकत्व आ गया तो वे स्वयं संयमियों के प्रति श्रद्धालु होकर नतमस्तक हो जायेंगे।

प्रथम तो यह बात है कि जिसे आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान न हो गया होगा वह मुनि पद धारण क्यों करेगा? इस भेद विज्ञान के भी पूर्व की अवस्था का नाम ही सम्यग्दर्शन होता है। जब भेद विज्ञान की सूचना प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य से बराबर मिलती है और इन महापुरुषों में भेद विज्ञान के स्पष्ट सब लक्षण विद्यमान हैं और स्पष्ट दीखते हैं फिर उनमें सम्यग्दर्शन न मानना और अपने ये लक्षण स्पष्ट न दीखने पर भी सम्यग्दर्शन मान बैठना महान् मिथ्यात्व और घोर अक्षम्य अपराध है। इतने पर भी यह माना जाय कि सम्यग्दर्शन का भाव अति सूक्ष्म है सो सम्यग्दर्शन है, ऐसा कैसे मान लिया जाय तो फिर कहने वालों में सम्यग्दर्शन है यह कैसे मान लिया जाय? क्या कोरे सम्यग्दर्शन के कथन और व्याख्यान मात्र से ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। चर्चा मात्र से बाल की

खाल निकालने वाले सम्यग्दृष्टि नहीं हुआ करते। सम्यग्दृष्टि तो वे ही होते हैं जिनकी आत्मा में प्रशमादि गुण प्रकट होकर स्पष्ट कार्य रूप में दीखते हैं।

मुनिजन और शिक्षा—

ज्ञान, विद्या या शिक्षा का फल चारित्र का लाभ है। संसार में अनन्त ज्ञेय पदार्थ हैं इस थोड़ी सी आयु में संम्पूर्णत: १०-२० ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान भी नहीं हो सकता इसलिए अन्य ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान के पीछे न दौड़ एक अपनी आत्मा का ज्ञान कर लिया जावे तो वह ज्ञान लाखों करोड़ों ज्ञेयों के ज्ञाता से भी अच्छा होता है क्योंकि 'य: आत्मविन् स सर्वविन्' अर्थात् जिसने अपने आत्मा का ज्ञान कर लिया उसने सब ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान कर लिया।

द्वादशांग का ज्ञाता भी संयम धारण न करे तो उसे आत्मलाभ की सिद्धि नहीं हो सकती। मुनि अवस्था और आत्म सिद्धि के लिए अधिक ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान न होकर केवल आचार वस्तु का ज्ञान और विशेष हो तो अष्ट प्रवचन मातृका (पांच समिति और तीन गुप्ति) का भी ज्ञान हो जाय तो वह आत्मा सिद्ध पद को प्राप्त कर सकता है।

शिवभूति मुनि अत्यन्त मन्द ज्ञानी थे परन्तु महासंयमी और आत्म ज्ञानी थे। उनके गुरु ने उन्हें मन्दबुद्धि समझ केवल प्रयोजनीय बात इतनी ही सिखाई कि "मा रुप मा तुष" अर्थात्

न किसी से राग करो और न द्वेष करो। परन्तु इन छह अक्षरों का अर्थ तो अपनी जीवन चर्या में उतारते ही थे किन्तु उन्हें ये छह अक्षर याद न रह कर केवल ये चार अक्षर "तुष माष" याद रह सके।

एक दिन आहार को वे जा रहे थे कि एक स्त्री द्वारा एक स्त्री को यह उत्तर देते हुए सुना कि मैं उड़द से छिलका उतार रही हूँ। बस यही सुन कर उनके ध्यान मे यह बात बैठ गई कि इसी प्रकार आत्मा रूप उड़द से कर्म रूप छिलका उतारना चाहिए। बस इसी महान् प्रयोजनीय ज्ञान से शिवभूति मुनिराज को केवल ज्ञान होकर आत्म सिद्धि हो गई थी।

इसी बात को श्री कुंद कुंदाचार्य महाराज अपने अष्ट पाहुड के अन्तर्गत भाव पाहुड में कहते हैं कि—

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवल णाणी फुडं जाओ ॥५३॥

श्री कुंदकुंदाचार्य ने यह बात २००० वर्ष पहले कही है अर्थात् जब भी इतने मन्दज्ञानी मुनि होते थे जिन्हें गुरु द्वारा बतलाये हुए छह अक्षरों में से उलटे सीधे चार अक्षर याद रह सके थे परन्तु ऐसे शिवभूति मुनि को भी उन्होंने "महानुभाव" बतलाते हुए बाद में केवल ज्ञानी होना बतलाया है।

आज जो मुनि देखे जाते हैं उनमें इतने मन्द ज्ञानी भी नहीं हैं। कई तो महान् उद्भट विद्वान् भी हैं। जैसे श्री १०८ श्री आचार्य

महावीर कीर्ति जी महाराज, श्री १०८ श्री आचार्य श्री वीर सागर जी महाराज, श्री १०८ श्री आचार्य देशभूषण जी महाराज ने भी ज्ञान की दिशा में अच्छा प्रकाश किया है। अन्य भी सभी मुनिराज बहुत अधिक विद्वान् नहीं हैं तो भी महान् भेद विज्ञानी हैं और भाव विशुद्ध हैं। ऐलक क्षुल्लकों में भी श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी, श्री सहजा नन्द जी श्री सिद्धिसागर जी ज्ञानभूषणजी आदि अनेकों उद्भट विद्वान हैं।

आत्मसिद्धि करने के लिए आत्म ज्ञान की आवश्यकता है। आत्मसिद्धि और आत्मज्ञान के लिये श्रुतज्ञान की आवश्यकता है। श्रुत का विशेष ज्ञान होकर भी यदि आत्मज्ञान न हुआ तो वह विशेष ज्ञान अलाभकारी, अकिंचित्कर एवं केवल लोकानुरंजन करने वाला है। उससे चाहे परका कल्याण होजाय परन्तु आत्म-कल्याण तो उससे नहीं होता। आत्म कल्याण तो चारित्र से ही होगा उस आत्म ज्ञान के साथ यदि विशेष श्रुतज्ञान भी अधिक होतो वह पर कल्याणकारी अधिक हो जाता है।

इस वर्त्तमान भौतिकयुगमें सूक्ष्म से सूक्ष्म चर्चा करने वाले तथा ज्ञानियों की कमी नहीं है। संसार को आज ऐसे केवल चर्चा प्रिय ज्ञानियों की आवश्यकता नहीं है आवश्यकता है— विश्वशान्ति के मूल सूत्रधार सच्चे संयमी और त्यागी आध्यात्मिक संतों की। आध्यात्मिक संत पने की अन्तिम अवस्था नग्न दिगम्बर परमवीतरागी साधुओं में होती है अत: उनको समस्त विश्व की महान् निधिरूप समझ कर उनकी सेवा भक्ति के साथ

उनसे आत्मकल्याण का साधनरूप संयम यथाशक्ति प्राप्त करना परम विवेकीआस्तिकों का कर्त्तव्य है।

काले कलौ चले चित्ते देह चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।

इस कलिकाल में जिसमें कि चित्त सदैव विचलित और चंचल रहते हैं और यह शरीर अन्नादि परार्थों के ही सर्वथा आधीन है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस समय भी जिनेन्द्रदेव के रूप को धारण करने वाले महापुरुष दीखने में आरहे हैं।

विवेकशील आस्तिक समाजको चाहिये कि तत्व को समझें और भावलिंगी द्रव्यलिंगी मुनिके स्वरूप को आगम अनुसार जाने एवं भ्रांत विचारों और धारणाओं से बचें।

जैनं जयतु शासनम्।

॥ श्रीः ॥

श्री १०८ श्री दिगंबर जैनाचार्यवर्य श्री वीरसागर महाराज पूजनम्

(प्रणेता – इन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकारः जयपुरम्)

अथाऽऽह्वाननादिकम्

वसततिलकावृत्तम्

श्री वीरसागरमुनीन्द्रपदारविन्द–
माकारयामि विमले मम हृत्प्रदेशे।
संस्थापयामि करुणाकरसौख्यहेतुं
संस्थापयामि सविधे परिपूजनार्थम् ॥ १ ॥

अथ जलादिभिरर्चनम्—

(२)

हे नाथ ! जन्ममरणार्त्तिसुपीडितोऽहं
भ्राम्यन् सदा हि गहने भवकाननेऽस्मिन्।
प्राप्तोऽस्मि ते चरणपादपमीतिमुक्तं
सिंचामि शुद्धजलतो गुरुताप शांत्यै ॥ जलम्

(३)

संसारतापविलये निपुणौ समर्थौ
मन्ये त्वदीयचरणौ जगतीतलेऽस्मिन्।

उत्ताप शांतिकरणे परमं प्रसिद्धं
सच्चंदनं गुरुजितं परिपातयामि ॥ चन्दनम्

(४)

यान्यक्षतानि जगति प्रथितानि साधो !
तैर्नास्ति चाक्षयपदाप्तिरिहाप्यमुत्र ।
आनीय तानि विविधानि सुमौलिकानि
संपूजयामि चरणौ तव नाथ तैर्हि ॥ अक्षतम्

(५)

संसारतापकरणे जगति प्रसिद्धः
पुष्पायुधोऽयमिति मन्मथराजराजः ।
तस्यायुधानि कुसुमानि त्वदीयपादा–
वानीय तानि विविधानि समर्पयामि ॥ पुष्पम्

(६)

क्षुद्रोगशांतिकरणे विविध प्रकाराः
ख्याताः सितान्नघृतपूरितमोदकाद्याः ।
कस्यापि शांतिरिह नाथ निरीक्षिता न
तैरेव पूतचरणौ परिपूजयामि ॥ नैवेद्यम्

(७)

त्वत्प्राप्तबोधमयदीपकमेव दीप्तं
नित्यं प्रकाशयति विश्वपदार्थजातम् ।
दीपं तु नास्ति सफलं हि जगत्प्रकाशे
आरार्त्रिकं तव पदावबदारयामि ॥ दीपम्

(८)

धूपैस्तु तैरगुरुमुख्यपदार्थजातैः
काष्ठेंधनाद्दहनमस्ति सुधूपितैश्च ।
कर्मेन्धनज्वलनसाधनपादमूलं
संधूपयामि त्रिविधेन गुरो ! त्वदीयम् ॥ धूपम्

(९)

आम्रादिकानि तु फलानि न सत्फलानि
तैर्भक्षितैर्न हि रसः शमतृप्तिकारी ।
एतानि तानि सरसान्यपि नाममात्रं
हे सद्गुरो ! चरणयोस्तव संदधेऽहम् ॥ फलम्

(१०)

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्—

अंभश्चन्दनचारुतंदुलयुतैः पुष्पैर्मनोहारिभि–
नैवेद्यैर्घृत पूर्णदीपकवरैर्धूपैः फलैः संभृतैः ।
अर्चेऽहंगुरुवीरसागरपदं श्री शांतिसिंधूद्गतं
स्तोष्ये चाक्षरमालिका पदयुजा स्तोत्रेण पापापहम् ॥अर्घ्यम्

अथ स्तुतिर्जयमालिका वा

(१)

श्रीवीरसागर मुनीन्द्रपदैककभानुं
संप्रीणिताखिलसुभव्यजनौघपद्मम् ।

संसारकानन विनिर्गमने प्रकाशं
वंदे सदा निरुपमं भवरोगशांत्यै ॥

(२)

संप्राप्तपौरुषफलः परमार्थमूलः
वैराग्यपल्लवनवः कृतशांतिछायः ।
जैनेन्द्रवाग्जलभृतो धृत धैर्यशाखः
श्रीवीरसिंधुमुनिपादप एष जीयात् ॥

(३)

उत्तारिता भृतभवाब्धिगताः सुभव्याः
सद्धर्मसत्प्रवहणे नितरां निधाप्य ।
अद्यापि तेन सततं क्रियते तदेव
संसारसिंधुविजयी किल वीरसिंधुः ॥

(४)

संसारतापतपनज्वरपीडया हि
ये पीडिताः खलु विशिष्टविवेकवंतः ।
गत्वा विलंवमविधाय सुशांतिकामाः ॥
ते वीरसागरजले निपतन्तु भव्याः ॥

(५)

क्षारं जलं जलनिधाविह पीयते प्राक्
पीतेन तेन सकलामयनिग्रहोऽस्ति ।
जैनेन्द्रवागमृतपूर्णभृतः पवित्रः
श्री वीरसागरगुरुः पतितान् पुनाति ॥

(६)

स्रग्धरावृत्तम्

यः कारुण्यधरो दयालुरघभीः संरक्षयन् प्राणिन-
स्तत्कार्यं कुरुते न यत्र भवति प्राण्यंगसंपीडनम् ।
त्यक्तारंभपरिग्रहः सुकृतिनां सत्यागिनामग्रणीः
आचंद्रार्कमसौ सदा विजयतां श्रीवीरसिंधुगुरुः ॥

(७)

शार्दूलविक्रीडितम्

येनाशिक्षि सुभव्यशिष्यबहुलं तत्वोपदेशेन वै
येनादायि सुदीक्षणं शिवकरं सत्पात्रलोकाय च ।
येनाचारि परंपरा सुयमिनः शिष्यैः समाचर्यते
तं बन्दे शिववीरसागरगुरुं नेत्राय दत्तोत्सवम् ॥

(८)

वसंततिलक वृत्तम्

आषाढ़ शुक्लपरिपूर्णतिथौ पवित्रे
एकोन (१६३३) विंशत्रयत्रिंश सुवासरेऽत्र ।
पित्राहि रामसुखनामक सज्जनेन
प्राप्तसुजन्म खलु मातरि भाग्यवत्याम् ॥

(६)

जातेन मेन सकलेऽपि कुले प्रमोद-
वर्षा ववर्ष निजपत्तनयीर[1] भूमौ ।

१–यीर नामक नगरे ।

वाद्यैः सुगानमधुरैरपि दानतोऽभूत् ।
सर्वं पुरं प्रमुदितं सुतजन्महर्षात् ॥

(१०)

पित्रादिभिर्गुणनिरीक्षणतुष्टिपुष्टै
र्हीरादिलाल इति नाम व्यधायि सार्थम् ।
संप्रीणयन् कुलजनान्निजलीलया यः
सद्दृष्टिमाप नितरां सुगुणैश्च सार्धम् ॥

(११)

विद्यामधीत्य विमलां गुरुपादमूले
संप्राप्य संगतिबलं विदुषां जनानाम् ।
ज्ञानस्य लब्धुममलं फलमुत्तमं हि
यत्नं सदा प्रविदधे शुभकर्मयोगात् ॥

(१२)

बाल्येऽपि यः सुकृतवान् कृतिकर्म धर्म्यं
त्यक्त्वा विवाहविधिसंसृतिभंगिजालम् ।
सद्ध्यानताध्ययनकार्यरतो विरेजे
पित्रादिकैः सुधनिकैर्हि निवारितोऽपि ॥

(१३)

खंडेलवालवरजातिविराजितो यो
गंग्वाल गोत्रजनितः सुविशुद्धपिंडः ।
ज्ञाता जिनेंद्रवचनस्य महाप्रतापी
जातो जगत्प्रथितकीर्त्तिरसौ मुनीन्द्रः ॥

(१४)

उद्योतिताः स्वयशसा निजवंशजाताः
ख्यातिं परां जगति ते खलु लेभिरे काम् ।
सूर्योऽथ वा किल शशी मुनिराज एषः
सन्मार्गदर्शनपटु र्निजतत्वदर्शी ॥

(१५)

श्री शांतिसागरमुनीन्द्रमथैत्य शीघ्रं
श्रुत्वा समग्रनिजधर्मविधिं प्रमोदात् ।
तत्याज गेहवसतिं च कुटुम्बिलोकैः
संवारितोऽपि नितरां सुतमोहजालैः ॥

(१६)

एकोनविंश शतकैक अशीतिवर्षे (१९८१)
जग्राह साधुपदवीं हि दिगंबरीयाम् ।
श्री शांतिसागर गुरोर्वरपादमूलं
नत्वा जहर्ष सकलोपधिदूरितः सन् ॥

(१७)

शास्त्राण्यधीत्य जगतीतलसारभूता-
न्यभ्यस्य सन्नियमवृंदविधिं समस्तम् ।
संसारभोगविरतो निजतत्वबोधा-
ज्जातो दृढस्तपसि चंचलवृत्तिशून्यः ॥

(१८)

त्यक्त्वा समस्तभुवनं गुरुतापकारि
त्यक्तं गलत्तृणमिव स्वयमेव येन ।
सौख्यं हि नास्त्यविचलं स्थिरभूतमत्र
ये सौख्यलोलुपजना निपतंति तेऽधः ॥

(१९)

नित्यं भवात्तरति तारयतीतरान् यः
सौख्येऽचले निजमनो प्रणिधाय सम्यक् ।
आदर्शधर्मफलभाजनमेष साक्षात्
श्री वीर सागर गुरुर्जयतात् धरित्र्याम् ॥ इत्यर्घ्यम्

अथ पूजाफलम्

ये वीरसागरपदानि सुपूजयंति
भव्याः सदा सुविधिना गुरुभावभक्त्या ।
ते प्राप्य सर्वजगतीतल सौख्यजात—
मिन्द्राहमिन्द्रशिवतापदमाप्नुवन्ति ॥

इति शुभम् ।

देवशास्त्रगुरुस्तवनम्

(जयपुर निवासि श्रीइन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकार विरचितम्)

दोधकवृत्तम्

(१)

प्रणमामि जिनेश्वर सूर्यमहं
सकलामयजातिहरं सुखदम् ।
भविपद्मविकासकरं परमं
निजतत्त्वप्रकाशकरं सकलम् ॥

(२)

ऋषभादिजिनेंद्रवरान् सकलान्
गुणराशियुतान् भवमुक्तियुतान् ।
हृदि शांतिकरान् गतरागरिपून्
प्रणमामि सदा शिवसौख्यभरान् ॥

(३)

जडताविरहो पदसेवनतः
किल तत्वविमर्शकरी धिषणा ।
भवतीह नरस्य गुणप्रगुणा
प्रणमामि श्रुतं जगदांध्यहरम् ॥

(४)

जिनराजमुखोद्गतवाक्यभरं
गुरु गौतमनाथधृतं सुकरम् ।
धरसेनमुनीन्द्रकृतप्रसरं
प्रणमामि श्रुतं जगदाध्यहरम् ॥

(५)

कलिदोषविसर्जन शांतिकरं
भवरागनिवृत्तिकरं विमलम् ।
सुरस मधुरं द्विदशांगभरं
प्रणमामि श्रुतं जगदाध्यहरम् ॥

(६)

जिनसेनसमन्तसुभद्रनुतं
अकलंकवचः पीयूषभृतम् ।
अमृतत्वकरं ह्यमरं परमं
प्रणमामि श्रुतं जगदाध्यहरम् ॥

(७)

अनुयोगचतुष्टयरूपधरं
नययुक्तिप्रमाण भृतं सरसम् ।
निजवेदनतत्वकरं विशदं
प्रणमामिश्रुतं जगदाध्यहरम् ॥

(८)

व्रतधारकमात्महिते निरतं
परमं विशदं गतकर्मवशम् ।
अघदूरकरं गतगागरिपुं
सुगुरुं प्रणमामि त्रिशुद्धिधरम् ॥

(६)

समशत्रुसुहृज्जनभावधरं
गतमोहमतंद्रममेयगुणम् ।
ककुभंबरमात्मरतं यतिपं
गुरुराजपदं प्रणमामि सदा ॥

(१०)

भवमध्यगतं भविनं कृपया
खलु तारयतीह समाहितया ।
पतितान् हि पुनाति पवित्रमतिः
सुगुरुर्वसतां सततं हृदि मे ॥

जैनं जयतु शासनम्